आदिवासियों की हत्यारी सिलिकोसिस

अमिता बावीसकर

गुजरात की सिलिका क्वार्ट्ज़ क्रशिंग फैक्ट्रियों में काम की बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों की वजह से मध्यप्रदेश के झाबुआ और धार ज़िलों के सैकड़ों आदिवासी लाइलाज बीमारी सिलिकोसिस की चपेट में हैं। इनमें से कई तो असमय ही काल-कवलित हो चुके हैं, जबकि अन्य कई मौत की कगार पर खड़े हैं। आदिवासियों की इस दशा के लिए उनकी गरीबी कम, लालची फैक्ट्री मालिक, भ्रष्ट अधिकारी और समस्या से बेपरवाह सरकारें ज़्यादा ज़िम्मेदार हैं। पेश है एक रिपोर्ट ...

14 अक्टूबर 2003 को दक्षिण-पश्चिम मध्यप्रदेश के झाबुआ ज़िले में स्थित मालवाई गांव के जन प्रतिनिधियों ने एक हलफनामा पढ़कर सुनाया। यह हलफनामा एक बेहद भयावह तस्वीर पेश कर रहा था- "हमारे गांव के कुछ लोग गुजरात के बालासिनोर में स्थित पत्थर पीसने वाली फैक्ट्रियों में काम करने गए थे। इनमें से कुछ लोगों की मौत हो चुकी है, और बाकी लोग एक गंभीर बीमारी से ग्रस्त होकर मरने की कगार पर खड़े हैं।" दस्तावेज में 15 लोगों के नाम दिए गए थे जिनमें से 5 का देहांत हो चुका था, जबकि 10 लोग गंभीर रूप से बीमार थे।

इस खतरनाक व गंभीर बीमारी का नाम है -सिलिकोसिस। हलफनामा जारी करने के एक दिन पहले ही 40 साल के ननका की मौत हुई थी और उसके दो दिन पहले 22 साल के युवक गुंजाला ने दम तोड़ा था। तीन दिन के अंतराल में दो मौतों और 10 अन्य आदिवासियों की गंभीर बीमारी इस हलफनामे की वजह बनी।

स्वास्थ्य सम्बंधी यह समस्या उन ढेरों अन्य समस्याओं से अलग है जिन्हें देश के गरीब आदिवासी रोज़ाना झेल रहे हैं। इन सभी पीड़ित आदिवासियों में तेज़ घरघराहट की आवाज़ के साथ चलती सांस और लगातार कमज़ोर होता शरीर बताता है कि इनकी इस बीमारी की कोई समान वजह ज़रूर है। इन सभी ने गुजरात के बालासिनोर व गोधरा इलाकों की सिलिका क्वार्ट्ज़ क्रशिंग फैक्ट्रियों में थोड़े समय के लिए काम किया था। ये फैक्ट्रियां ही इनकी इस हालत के लिए ज़िम्मेदार हैं।

इस प्रारंभिक हलफनामे के तीन साल बाद वर्ष 2006 में स्थानीय किसानों व मज़दूरों के संगठन खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ ने इंदौर स्थित एक एनजीओ शिल्पी केंद्र की मदद से एक सर्वे किया जिसके अनुसार उसी बीमारी से मालवाई गांव में 21 और लोगों की मौत हुई थी। इस साल मई माह तक 12 अन्य लोगों ने दम तोड़ दिया। इस प्रकार सिलिकोसिस से मरने वालों की संख्या 38 हो गई है।

जिन 23 परिवारों के लोग गुजरात की पत्थर पीसने वाली फैक्ट्रियों में काम करने गए थे, उनमें केवल चार वयस्क ही जीवित बचे हैं। उनकी हालत भी बेहद दयनीय है। इनमें से एक रामला थावरिया अपनी झोपड़ी के बाहर एक चारपाई पर लेटा रहता है। वह तीन साल पहले 14 मज़दूरों के साथ बालासिनोर स्थित ज्योति मिनरल्स में काम करने गया था। उसे दूरसिंह नामक एक मुकद्दम अपने साथ गुजरात ले गया था। दूरसिंह भी सिलिकोसिस की चपेट में आकर दम तोड़ चुका है। रामला को वहां रोजाना 50 रुपए मज़दूरी मिलती थी। उसका काम क्वार्ट्ज़ पत्थरों को क्रशर में डालना होता था। क्रशर उन पत्थरों को सिलिका पॉवडर में बदल देता था। इस दौरान सिलिका के महीन कण चारों ओर उड़ते रहते। रामला और उसके साथी जब सांस लेते तो ये सिलिका के कण भी शरीर के अंदर चले जाते। रामला ने गर्मी के चार माह इस फैक्ट्री में काम किया और बारिश के मौसम में मालवाई गांव लौट आया। एक साल के अंदर ही वह बहुत कमज़ोर हो गया, हर समय खांसता रहता, सांस लेता तो घरघराहट की आवाज़ होती। धीरे-धीरे

उसका शरीर जवाब देने लगा, अंगों की ताकत जाती रही। सिलिका की वजह से उसके फेफड़े अवरुद्ध व ऊतक क्षतिग्रस्त हो गए हैं जिससे ऑक्सीजन ग्रहण करने की क्षमता भी क्षीण हो गई है। रामला की मांसपेशियां सिकुड़ गई हैं जिससे अब वह कोई भी काम करने लायक नहीं रह गया है। वह अपनी चारपाई पर लेटे-लेटे केवल मौत का इंतज़ार कर रहा है, लेकिन उसे चिंता है तो अपने छह बच्चों के पेट की।

रामला अभी 45 साल का है। गरीब भूमिहीन आदिवासियों में बीमारियों या हादसों की वजह से समय पूर्व मौतें आम हैं। ये आदिवासी परिवार इसके अभ्यस्त भी हो चुके हैं, लेकिन इसके बावजूद सिलिकोसिस से होने वाली मौत को सामान्य घटना नहीं माना जा सकता। आखिर लोगों को यूं ही कैसे उनकी किस्मत के भरोसे छोड़ा जा सकता है? रामला और उस जैसे सैकड़ों लोगों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले सामाजिक कार्यकर्ताओं का मानना है कि अगर शासन और प्रशासन के स्तर पर समय रहते कोई कार्रवाई की जाती, तो इन मौतों को रोका जा सकता था।

पिछले पांच साल के दौरान स्थानीय प्रशासन, गुजरात सरकार, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और सुप्रीम कोर्ट तक में ढेरों याचिकाएं दायर की जा चुकी हैं, लेकिन आज तक एक भी फैक्ट्री न तो बंद की गई और न ही दंडित। राज्य सरकार ने पीड़ितों की भी सुध लेने की जहमत नहीं उठाई। न तो उन्हें मुआवज़ा दिया गया और न किसी प्रकार की सहायता।

गरीबी और पलायन

दीवाली व होली और फिर गर्मियों के महीनों में झाबुआ ज़िले के गांव के गांव खाली हो जाते हैं। केवल बुज़ुर्ग और विकलांग लोग ही गांवों में रह जाते हैं। प्रत्येक बस स्टैंड व रेल्वे स्टेशन पर पुरुषों, महिलाओं व बच्चों के छोटे-छोटे समूह अपने साथ अपना थोड़ा बहुत सामान लिए काम की तलाश में गुजरात की ओर जाते दिखाई देते हैं। पूरा झाबुआ ज़िला सूखा इलाका है जहां केवल बारिश के दिनों में मक्का, बाजरा और ज्वार की फसलें ही ली जा सकती हैं। इससे इस क्षेत्र के गांवों में हर समय काम नहीं मिलता। इसलिए क्षेत्र के भील व भिलाला आदिवासियों के लिए पलायन एक मजबूरी बन जाता है। वाटरशेड मिशन जैसे बहुप्रचारित कार्यक्रम भी क्षेत्र के आदिवासियों के जीवन स्तर में कोई बदलाव लाने में विफल रहे हैं।

ये आदिवासी अतीत में भी सामाजिक भेदभाव व शोषण का शिकार रहे हैं। ज़िले के दक्षिणी हिस्से में स्थित अलीराजपुर तहसील में खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ की राजनीतिक चेतना से आदिवासियों को स्थानीय संसाधनों पर कुछ नियंत्रण मिला है। इससे उन्हें वह सम्मान हासिल हुआ है जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। लेकिन म.प्र. सरकार अब भी क्षेत्र में ऐसा निवेश करने में विफल रही है जिससे कि बड़े पैमाने पर रोज़गार निर्मित हो सके। इससे झाबुआ देश के निर्धनतम जिलों में शीर्ष पर बना हुआ है।

काम और बीमारियां

'वाइब्रेंट गुजरात' की उछाल मारती अर्थव्यवस्था ने हज़ारों आदिवासियों को मज़दूर बनाकर रख दिया है जिन्हें न्यूनतम मज़दूरी से भी कम पैसा दिया जाता है। उन्हें न तो स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया करवाई जाती हैं और न ही अन्य कोई सामाजिक सुरक्षा। बालासिनोर, खेड़ा व गोधरा ज़िलों में स्थित क्वार्ट्ज़ क्रशिंग इकाइयों में तो काम खतरनाक की श्रेणी में आता है। वर्ष 1982 में नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ आक्युपेशनल हेल्थ (एनआईओएच) द्वारा छह फैक्ट्रियों में वायु की गुणवत्ता के सम्बंध में किए गए एक अध्ययन में पाया गया था कि हवा में सिलिका कणों की उपस्थिति अंतर्राष्ट्रीय मानक से 81 से 660 गुना अधिक थी। इसके बाद गुजरात प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा भी समय-समय पर किए गए अध्ययनों से पता चलता रहा है कि वायु प्रदूषण का स्तर सुरक्षित से कहीं अधिक है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड और एनआईओएच ने क्वार्ट्ज़ क्रशिंग इकाइयों के लिए सख्त नियम तो जारी कर रखे हैं, लेकिन अनुपालन की निगरानी की कोई प्रणाली नहीं है। किसी भी फैक्ट्री के मालिक के खिलाफ आज तक कोई दंडात्मक कार्यवाही नहीं की गई है। मालिकों को यह बात अच्छी तरह पता रहती है

कि उनकी फैक्ट्रियों में चल रहे काम की प्रकृति कितनी खतरनाक है। इसलिए खुद उन्हें जब अपनी फैक्ट्री का दौरा करना होता है, तो वे अपने प्रबंधकों को काम रोकने का निर्देश दे देते हैं ताकि सिलिका कण नीचे बैठ जाएं और उन्हें कोई दिक्कत न हो। समय-समय पर लेबर इंस्पेक्टरों व प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारियों की जेबें गर्म की जाती रहती हैं ताकि वे कार्य की परिस्थितियों व प्रदूषण के पहलू की उपेक्षा करते रहें। नेताओं को भी चढ़ावा चढ़ता रहता है ताकि उद्योगपतियों के हित सुरक्षित रहें। राजनेताओं और नौकरशाहों की मिलीभगत से तो उच्चाधिकार प्राप्त समितियों की जांच बेमानी हो जाती हैं। उदाहरण के लिए वर्ष 2006 में केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा एनआईओएच के निदेशक की अध्यक्षता में गठित समिति ने गोधरा स्थित फैक्ट्रियों में कार्य की परिस्थितियों व वायु प्रदूषण का जायजा लेने के लिए दौरा किया। समिति ने जिस दिन दौरा किया, उस दिन इलाके में 'बिजली की कटौती' के बहाने एक भी क्वार्ट्ज़ क्रशिंग इकाई चालू नहीं थी। इसी प्रकार

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की एक टीम ने अक्टूबर 2007 में इलाके का दौरा किया, लेकिन उसे अधिकांश फैक्ट्रियों के दरवाज़ों पर ताले लटके मिले। जाहिर है कि फैक्ट्रियों के मालिकों को पहले ही इन दौरों की भनक लग गई थी।

ऐसी स्थिति में आदिवासियों को किसी तरह का संरक्षण या मुआवज़ा मिलने की उम्मीद भी नहीं रखनी चाहिए। फैक्ट्रियों के कर्मचारी रजिस्टरों में उनके नाम दर्ज नहीं होते हैं। बाहर से आए ये आदिवासी आम तौर पर ठेके पर कार्य करते हैं जिससे स्थायी कर्मचारियों के रूप में उनकी पहचान करना असंभव हो जाता है। ये आदिवासी अपने घरों से दूर रहते हैं, ऐसे में असुरक्षा का भाव तो उनमें पहले से ही रहता है। डेविड मोसे व उनके साथियों ने इस क्षेत्र में प्रवास पर आने वाले आदिवासियों के हालात पर गहन अध्ययन किया है। वे अपने अध्ययन में लिखते हैं, "मामला यह नहीं है कि प्रवासी आदिवासियों को अपने मौलिक कानूनी अधिकारों के बारे में जानकारी नहीं है या इन्हें पाने में बहुत अधिक खतरा है अथवा अपने अधिकारों को लागू करने वाली एजेंसियों तक उनकी खास पहुंच नहीं है (हालांकि एक हद तक यह भी सच है)। मुद्दे की बात तो यह है कि प्रवासी आदिवासियों की अपनी कोई राजनीतिक आवाज़ नहीं है, उनका कोई राजनीतिक प्रतिनिधित्व नहीं है। वे न तो उपभोक्ता हैं और न ही ग्राहक और उनके हित राजनीति के मैदान में कारगर हथियार बनने में विफल रहते हैं।"

आशा की एक किरण

मोसे के आकलन के बीच खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ और शिल्पी केंद्र जैसे संगठनों ने अपनी सक्रियता से सिलिकोसिस जैसे मुद्दे को सार्वजनिक एजेंडा के केंद्र में ला खड़ा किया है। उनके प्रयासों से सार्वजनिक स्वास्थ्य के पेशेवरों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, मीडिया, कोर्ट तथा अन्य संवैधानिक निकायों को जागरूक करने और साथ ही अन्य राज्यों में इसी प्रकार के संगठनों के साथ नेटवर्क स्थापित करने में सफलता मिली है। झाबुआ ज़िले की अलीराजपुर तहसील के 21 गांवों में सिलिकोसिस पर हुआ सर्वे अपने

आप में ऐसा पहला सर्वे है जिसमें लोगों की व्यावसायिक व स्वास्थ्य सम्बंधी पुरानी जानकारी के साथ शारीरिक व विकिरण सम्बंधी परीक्षणों का पूरा ब्यौरा दिया गया है। इस रिपोर्ट के अनुसार 218 परिवारों के 489 लोग किसी-न-किसी तरह से सिलिका धूल कणों के संपर्क में आए। इनमें से 158 लोगों की मौत हो गई जबकि अन्य 266 लोग सिलिकोसिस बीमारी की चपेट में आकर गंभीर रूप से बीमार पड़ गए। इस प्रकार 86 फीसदी लोग या तो मारे गए या फिर लाइलाज़ रोग से ग्रस्त हो गए। यह एक बहुत ही भयावह आंकड़ा है। इन प्रभावितों में से 92 फीसदी लोग अपने परिवार के पालनहार थे। मृतकों में से 94 फीसदी लोग सिलिका धूल कणों के संपर्क में आने के तीन साल के भीतर ही चल बसे थे।

सिलिकोसिस के सम्बंध में 'संगठ' की जांच-पड़ताल से इस बीमारी के फैलाव के पैटर्न के बारे में पता चलता है। प्रवासी आदिवासियों के इस बीमारी से ग्रस्त होने के सम्बंध में शुरुआती जानकारी 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में मिली। तब गुजरात-मध्यप्रदेश सीमा से सटे काठियावाड़ विकास खंड के गांवों के आदिवासी इस बीमारी से ग्रस्त पाए गए। वर्ष 2003 में मालवाई गांव के हलफनामे के बाद 2004 की शुरुआत में 'संगठ' की पहल पर अलीराजपुर सिविल हॉस्पिटल के डॉक्टरों का दो दिवसीय मेडिकल कैम्प आयोजित किया गया था। इसमें पता चला कि सिलिकोसिस से प्रभावित लोग अब अलीराजपुर तहसील में भी पाए जाने लगे हैं जो गुजरात की सीमा से काफी दूर है। वर्ष 2007 में यह बीमारी झाबुआ के पूरब में स्थित धार ज़िले के आदिवासियों में भी पाई गई। बीमारी के इस प्रकार फैलाव से साफ है कि गुजरात के निकटवर्ती इलाकों में आदिवासियों के सिलिकोसिस की चपेट में आने के बाद क्रशिंग इकाइयों के लिए मज़दूरों की तलाश अन्य नए इलाकों में की जाने लगी है। एक व्यापक सर्वे के अभाव में इस बात का पता लगाना बहुत कठिन है कि इस बीमारी से प्रभावित लोगों की वास्तविक संख्या कितनी है, लेकिन झाबुआ सर्वे से यह तो अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि हज़ारों की तादाद में आदिवासी इस बीमारी से प्रभावित होंगे और उनमें से कई मर चुके होंगे, जबकि अन्य कई मौत का इंतज़ार कर रहे होंगे। कानूनी रूप से ज़रूरी होने के बावूजद सरकार अब तक इस सिलसिले में आंकड़े जुटा पाने में विफल रही है। उसके पास इस समस्या को नकारने का इससे अच्छा तरीका नहीं होगा।

मौत के साथ ज़िंदगी

सिलिकोसिस प्रभावित आदिवासियों और उनके परिवारों का संघर्ष सतत जारी है। धार ज़िले की कुक्षी तहसील के बदग्यार गांव का 25 वर्षीय भिलाला आदिवासी कैलाश हड्डियों का ढांचा भर रह गया है। उसकी मां कहती है, "सुखेला छे" (बहुत कमज़ोर हो गया है)। पिछले दो सालों के दौरान कैलाश की पत्नी, उसकी दो बहनें और एक भाई सिलिकोसिस के शिकार हो चुके हैं। ये सभी वर्ष 2005 में बालासिनोर गए थे और उन्होंने वहां स्थित श्रीनाथ व नारायण फैक्ट्रियों में काम किया था। बालासिनोर जाने की वजह थी अपेक्षाकृत अधिक मज़दूरी। वहां उन्हें 60 से 70 रुपए मज़दूरी के रूप में मिल रहे थे जबकि स्थानीय स्तर पर मज़दूरी की दर 40 से 50 रुपए ही थी। इन गरीब भूमिहीन आदिवासियों के लिए मज़दूरी में 20 रुपए का अंतर काफी मायने रखता था और इसीलिए उन्होंने अपनी ज़िंदगी को ख़तरे में डालने में भी कोई परहेज़ नहीं किया। आज कैलाश चल नहीं सकता, अपने आप नहा भी नहीं सकता। उसकी दवाइयों का खर्च उठाने के लिए उसके अभिभावक एक जोड़ी बैल व एक भैंस बेच चुके हैं।

हालांकि सिलिकोसिस लाइलाज है, लेकिन इसके बावजूद लोग इससे छुटकारा पाने की उम्मीद लगाए हुए हैं। इन उम्मीदों को भुनाने के लिए प्रभावित इलाकों में कई झोलाछाप डॉक्टर भी पैदा हो गए हैं। मालवाई गांव की भूरी एक बोतल दिखाती है जो 'जीपी टोन सिरप' है। यह टॉनिक है जिसे लेने की सलाह एक स्थानीय डॉक्टर ने दी है। इस टॉनिक की कीमत करीब 50 रुपए है जो एक दिन की मज़दूरी के बराबर है। सिलिकोसिस से ग्रस्त भूरी अब इतना भी नहीं कमा पाती और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसे इस टॉनिक से कोई फायदा भी नहीं होने वाला है।

उसके शरीर को जो ऑक्सीजन चाहिए, उसकी पूर्ति किसी टॉनिक से नहीं हो सकती। यहीं से दो कि.मी. दूर रोर्धा गांव की मुन्नी बताती है कि पिछले पांच साल में उसके परिवार के 13 सदस्य मौत के मुंह में जा चुके हैं। वह और उसका एक भाई बचा है जो किसी तरह अनाथ बच्चों की परवरिश कर रहे हैं। वे दवाइयों के खर्च के लिए पहले ही अपनी ज़मीन व चांदी बेच चुके हैं।

"वे वहां क्यों गए?" मैंने मुन्नी से पूछा। उसका जवाब था कि अगर पंचायत में ही मज़दूरी मिल जाए तो भला बाहर जाने की ज़रूरत ही क्यों पड़े? राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी योजना (एनआरईजीएस) जैसे कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में स्थानीय प्रशासन की विफलता की वजह से ही गरीब आदिवासी अपने घरों से दूर खतरनाक उद्योगों में काम करने को मजबूर होते हैं। हमने जिस भी गांव का दौरा किया, किसी में भी एनआरईजीएस के तहत कोई भी प्रोजेक्ट नहीं चल रहा था, जबकि ये गर्मी के दिन थे जब रोज़गार की दिक्कतें और भी बढ़ जाती हैं। अधिकांश भूमिहीनों को जॉब कार्ड तक जारी नहीं किए गए थे। यह विडंबना ही है कि स्थानीय प्रशासन अपनी उपलब्धि के रूप में एनआरईजीएस के बजाय प्रधानमंत्री सड़क परियोजना का ढिंढोरा पीटता है। भूमि सुधार या सिंचाई परियोजनाओं के काम हाथ में लेने के स्थान पर प्रशासन सड़क परियोजनाओं पर ध्यान केंद्रित करता है। ये सड़कें ही हैं जो अतिरिक्त 20 रुपए की खातिर लोगों को अपने घर छोड़ने को विवश करती हैं।

वैसे भूमि आधारित कार्यक्रमों की बजाय सड़क परियोजनाओं को प्राथमिकता देने की प्रशासनिक प्रवृत्ति पर कोई आश्चर्य भी नहीं होना चाहिए। योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलूवालिया ने हाल ही में नई दिल्ली में आर्थिक विकास संस्थान में दिए अपने भाषण में देश के समग्र विकास के लिए जिस रणनीति की वकालत की थी, प्रशासन उसी के अनुरूप तो कार्य करता आ रहा है। अहलूवालिया ने अपने भाषण में कहा था, "अगर हमें गांवों में समृद्धि लानी है तो लोगों को कृषि से बाहर निकालना होगा और साथ ही लचीले श्रम अनुबंध बनाने होंगे।" झाबुआ ज़िले के आदिवासियों को विकास की इसी परिभाषा में ढाला जा रहा है। उन्हें शानदार सड़कों के जरिए कृषि कार्यों से दूर किया जा रहा है और नए श्रम अनुबंध तो इतने लचीले हैं कि उनमें उनके अधिकारों का कोई स्थान ही नहीं होता है।

आर्थिक उदारवाद की यह एक कटु सच्चाई है। आर्थिक विकास का जो हवाई मॉडल पेश किया गया था, वह वास्तविक धरातल पर साकार होने में विफल रहा है। सरकारों की सफलता की कसौटी तो यह होगी कि वह ज़मीनी स्तर पर कितना कार्य करती हैं। झाबुआ ज़िले के आदिवासी तो केवल इतना चाहते हैं कि उन्हें सुरक्षित रोज़गार मिले और उसमें इतना पैसा हो कि वे बेहतर ज़िंदगी जी सकें। उनके लिए रोज़गार के साधन इस तरह से सृजित किए जाने चाहिए कि उससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हो सके, वह अर्थव्यवस्था जिस पर वे पीढ़ियों से निर्भर रहे हैं।

आर्थिक उदारवाद की यह एक कटु सच्चाई है। आर्थिक विकास का जो हवाई मॉडल पेश किया गया था, वह वास्तविक धरातल पर साकार होने में विफल रहा है। झाबुआ ज़िले के आदिवासी तो केवल इतना चाहते हैं कि उन्हें सुरक्षित रोज़गार मिले और उसमें इतना पैसा हो कि वे बेहतर ज़िंदगी जी सकें।

सिलिकोसिस प्रभावित आदिवासियों ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और सर्वोच्च न्यायालय में गुहार लगाई है कि इन खतरनाक क्वार्ट्ज़ क्रशिंग इकाइयों को तत्काल बंद करवाया जाए ताकि और मज़दूर मरने से बच सकें। उन्हें फिर से चालू करने की अनुमति तमाम सुरक्षा मानकों का पालन करने की गारंटी के बाद ही दी जानी चाहिए। फैक्ट्री मालिकों के साथ ही उन अधिकारियों को भी दंडित किया जाए जिन पर नियमों का पालन करवाने की ज़िम्मेदारी थी। सिलिकोसिस से मारे गए लोगों के परिजनों व बीमार लोगों को पर्याप्त मुआवज़ा और बेसहारा परिवारों को मदद दी जानी चाहिए। इन बातों को अमल में लाकर ही झाबुआ और धार ज़िलों के आदिवासियों को न्याय दिलवाया जा सकेगा। ***(स्रोत फीचर्स)***